PATNA WOMEN'S COLLEGE AUTONOMOUS 1940

Hindi
Explore–Journal of Research
ISSN 2278 – 0297 **(Print)**
ISSN 2278 – 6414 **(Online)**
© Patna Women's College, Patna, India
https://www.patnawomenscollege.in/journal

हिन्दी सिनेमा में दलित चेतना :- ''सद्गति'' फिल्म के विशेष संदर्भ में

• निशु कुमारी • मधु कुमारी • मोनिका कुमारी

Received : November 2019
Accepted : March 2020
Corresponding Author : मंजुला सुशीला

सारांश : *साहित्य, सिनेमा और समाज इन तीनों के मणिकांचन संयोग से समाज और मनुष्य निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। साहित्यिक कृति के माध्यम से समाज के जिस वास्तविक और आदर्श रूप को प्रस्तुत किया जाता है, उसी प्रकार सिनेमा भी समाज के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था तीन भागों में बंटी है– (1) उच्च वर्ग (2) मध्यम वर्ग और (3) निम्न वर्ग। निम्न वर्ग के अंतर्गत इंसानों का वह समूह आता है जिसे सदियों से शोषित, पीड़ित और अभिशप्त जीवन जीने को बाध्य किया गया है। प्रारंभिक दौर के लेखकों ने यदा–कदा किसी पात्र की सृष्टि कर इस वर्ग की पीड़ा को अपनी रचना के माध्यम से दर्शाने का प्रयास किया, किन्तु कालांतर में इस विषय और इस वर्ग के इंसानों को पूर्णतः अपनी व्यथा और पीड़ा के साथ अभिव्यक्ति मिली। तात्पर्य यह कि साहित्य के उपरांत सिनेमा ने भी इस वर्ग के प्रति न सिर्फ अपनी सहानुभूति दर्शाई बल्कि दलित वर्ग के उत्थान का समाधान भी प्रस्तुत किया। जिस प्रकार प्रेमचंद द्वारा रचित कथा 'सद्गति' दलितों की पीड़ा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है, उसी प्रकार सत्यजित रे द्वारा निर्देशित फिल्म 'सद्गति' दलितों की स्थिति को बखूबी दर्शाती है। ओमपुरी जैसे किरदार द्वारा दुखी चमार के किरदार को जीवंतता प्रदान कर निर्देशक ने दलितों के प्रति एक विशेष संवेदना का भाव प्रकट किया है। वैसे तो कई साहित्यकारों और फिल्मकारों ने दलितों के प्रति अपने सकारात्मक विचारों का खुलासा किया है, किन्तु आजादी के इतने वर्षो उपरांत भी डॉ० भीमराव अंबेडकर और ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारकों एवं दलित उद्धारकों की सोच, दलितों की दयनीय स्थिति को बदल नहीं पाई है। आज भी इनके प्रति समाज का नकारात्मक रवैया स्पष्ट दिखता है। अपने इस शोध पत्र के द्वारा हमारा यही प्रयास है–दलितों के उत्थान और वास्तविक जीवन को दर्शाने में साहित्य समाज और सिनेमा के योगदान पर प्रकाश डालना एवं मानवता और इंसानियत के नाते समाज की चेतना को जागृत कर इस वर्ग विशेष को उसके हक और अधिकारों के प्रति सजग बनाना। जब तक प्रत्येक इंसान दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति और विचारों की उच्चता नहीं दिखाएगा, ये वर्ग इसी प्रकार शोषित, पीड़ित और अभिशप्त जीवन जीने को बाध्य रहेंगे।*

संकेत-शब्द (Keywords) - *मणिकांचन, समाजिक व्यवस्था, शोषित–पीड़ित–अभिशप्त, संवेदना, मानवता, सहानुभूति।*

निशु कुमारी
B.A. III year, Hindi (Hons.), Session: 2018-2021,
Patna Women's College, Patna University, Patna,
Bihar, India

मधु कुमारी
B.A. III year, Hindi (Hons.), Session: 2018-2021,
Patna Women's College, Patna University, Patna,
Bihar, India

मोनिका कुमारी
B.A. III year, Hindi (Hons.), Session: 2018-2021,
Patna Women's College, Patna University, Patna,
Bihar, India

मंजुला सुशीला
अध्यक्षा, हिन्दी विभाग, पटना वीमेंस कॉलेज,
बेली रोड, पटना ख़ 800 001, बिहार, भारत
E-mail : manjula.hindi@patnawomenscollege.in

भूमिका:

साहित्य और सिनेमा दोनों समाजरूपी सिक्के के दो पहलू समान हैं। हिन्दी सिनेमा प्रारंभिक दौर से ही साहित्य से जुड़ा है और दोनों ही अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम हैं।

साहित्य में दलित चेतना की बात की जाए तो इसका इतिहास काफी पुराना है। 1980 ई० के दशक में प्रेमचंद

द्वारा लिखित कहानी 'सद्गति' में दलितों की मार्मिक स्थिति का चरम रूप चित्रित है। साहित्य और जीवन – जगत के मध्य, दलित चेतना विमर्श का विषय बन चुका है। दलितों की स्थिति में सुधार की दिशा में जिन व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई उनमें डॉ० भीमराव अंबेडकर और जयोतिबा फुले का नाम सर्वोपरि है।

इसके साथ ही हिन्दी सिनेमा ने भी दलितों की पीड़ा को अभिव्यक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बॉम्बे टॉकीज द्वारा निर्मित फिल्म 'अछूत कन्या' (1936) से लेकर 'आर्टिकल 15' तक का सफर इसका प्रमाण है। वर्तमान में भी दलितों की स्थिति में बदलाव के लिए साहित्य और फिल्मों का निर्माण निरन्तर हो रहा है और यह अन्य विमर्श की तरह एक महत्वपूर्ण विषय बना हुआ है। कुछ फिल्में जिनमें दलितों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया गया है उनमें से प्रमुख हैं–प्यासा (1959), कागज के फूल (1959), नीचा नगर (1946), बूट पॉलिश (1954), आवारा (1956), बैंडिट क्वीन (1994) एवं डॉ० अम्बेडकर (2000) आदि।

उपर्युक्त फिल्में सवर्णों एवं शोषक वर्ग पर गहरा प्रहार करती हैं, जो अपनी संकीर्ण मानसिकता के कारण समाज के एक वर्ग विशेष को आज भी गुलाम बने रहने पर, उनकी स्वतंत्रता को छीन, उन्हें भोजन, वस्त्र और आवास से महरूम रहने को विवश करती हैं। उन्हें हर क्षेत्र में उनके दलित होने का एहसास कराकर उनकी आत्मा को ठेस पहुँचाया जाता है, उन्हें अपमानित किया जाता है।

आज भी दलितों की स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है,किन्तु साहित्य और सिनेमा के अंतःसंबंध ने उनकी आवाज और पीड़ा को मुखरित करने का प्रयास किया है और यह सराहनीय भी है। परिणामतः, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कमोवेश रूप में उनकी भागीदारी दिखाई तो देती है लेकिन अभी भी उनका यह संघर्ष जारी है। अभी भी हमारे समाज का यह वर्ग अपने हक और अधिकारों से वंचित है। ऐसी स्थिति में सिनेमा के माध्यम से दलितों की स्थिति को मद्देनजर रखते हुए उनके सुधार के जो प्रयास किए जा रहे हैं, वह एक सराहनीय कदम है।

इस शोधपत्र के माध्यम से हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार सिनेमा ने हमारे समाज के इस विशेष वर्ग के उत्थान में अपना सहयोग दिया, साथ ही उनकी दयनीय और मार्मिक दशा के चित्रण के माध्यम से उनके जीवन में सुधार लाने और समाज के मध्य जागती चेतना का संक्षिप्त अवलोकन प्रस्तुत करना है।

उद्देश्यः

साहित्य और सिनेमा का उद्देश्य सामाजिक चेतना को जगाना है। दोनों ही रूप में समाज का यथार्थ चित्रण होता है। फिल्मों के माध्यम से समाज के इस शोषित –पीड़ित वर्ग के प्रति होने वाले भेदभाव, अपमान और अभिशापित जीवन को बखूबी चित्रित कर समाज को इनके प्रति सजग बनाया जा सकता है। सिनेमा में दलित चेतना का विषय शामिल होने से समाज पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है, दलितों की स्थिति तथा उनकी सोच में सकारात्मक बदलाव आया है।

हमारे इस शोध कार्य का उद्देश्य है– प्रेमचंद रचित 'सद्गति' कहानी पर आधारित फिल्म 'सद्गति' के विशेष परिप्रेक्ष्य के साथ कुछ अन्य फिल्मों की चर्चा करते हुए सिनेमा में दलितों की दयनीय दशा का वर्णन एवं अवलोकन तथा सिनेमा के सार्थक उद्देश्य के साथ–साथ सिनेमा और मानव जीवन के अंतर्संबंधों पर प्रकाश डालना ।

सिनेमा का विकासः

सिनेमा का इतिहास लगभग 100 साल से भी अधिक पुराना माना जाता है। फ्रांस को आधुनिक कलाओं की जन्मभूमि कहा जाता है क्योंकि सर्वप्रथम कैमरे का आविष्कार फ्रांस में ही हुआ था। 1839 ई० में स्थिर चित्रों का छायांकन करने वाले मूवी कैमरे का आविष्कार फ्रांस में ही हुआ था। इससे प्रेरणा पाकर फ्रांस में 1894 ई० में एक ऐसे कैमरे का आविष्कार हुआ जो चलते–फिरते दृश्यों का चित्र खींच सकता था एवं उसे उसी अवस्था में प्रदर्शित भी कर सकता था। यहीं से सिनेमा की शुरूआत मानी जाती है।

हिन्दी सिनेमा का विकासः

हिन्दी सिनेमा के विकास का सफर भी विश्व सिनेमा के साथ ही शुरू होता है। 7 जुलाई 1896ई० को मुंबई के वाट्सन होटल में कुछ चुनिंदा लोगों के सम्मुख लुमिए बंधुओं की फिल्म का प्रदर्शन किया गया। 1898 ई० में हरिश्चन्द्र सखाराम भाटवेडेकर ने लुमिये बंधुओं से मूवी कैमरा खरीदा एवं फ्रांस में लघु फिल्म बनाई। उन्होंने 1903 ई० में एडवर्ड सप्तम, के राज्याभिषेक समारोह में भी

सिनेमेटोग्राफी की। इसी तकनीक को कलकत्ता के हीरालाल सेन ने भी अपनाया, जो पेशे से फोटोग्राफर थे। इन दोनों व्यक्तियों के द्वारा कैमरे का रचनात्मक इस्तेमाल किया गया जिससे संभावना के नए द्वार खुले और हिन्दी सिनेमा ने कलात्मक ऊँचाइयों को प्राप्त किया।

1913 ई० तक आते–आते पहले भारतीय कथाचित्र के लिए स्थितियाँ तैयार हो चुकी थी। 21 अप्रैल 1913 ई० को मुम्बई के ओलंपिया सिनेमा में भारत की पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिशचंद्र' का प्रदर्शन किया गया। 3 मई 1913 ई० को यह फिल्म कोरोनेशन थियेटर में प्रदर्शित की गई। इसके बाद सिनेमा में ध्वनि का आगमन हुआ एवं 14 मार्च 1931 ई० को 'आलमआरा' फिल्म का निर्माण हुआ जो प्रथम सवाक् फिल्म थी। इस क्षेत्र में पहली कामयाबी आर्देशिर इरानी को मिली। वर्तमान में हिन्दी फिल्मी क्षेत्र भारत में एक व्यवसाय के रूप में उभरा है जो कि अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है।

प्रारंभिक सिनेमा से वर्त्तमान हिन्दी सिनेमा तक का सफरः

दादा साहब फाल्के के अनुसार– ''फिल्म मनोरंजन का उत्तम माध्यम है लेकिन वह ज्ञानवर्धन के लिए भी अत्यंत बेहतरीन माध्यम है।'' (भारद्वाज – पृ० सं०–188)

भारतीय सिनेमा के जन्मदाता दादा साहब फाल्के ने 1919 ई० में एक भेंटवार्ता में यह बात कही थी।भारतीय सिनेमा के इतिहास में तीन तिथियों का विशेष महत्व है।

(1) **7 जुलाई 1896**– मुंबई के वाटसन होटल में लुमिये बंधुओं की फिल्म दिखाई गई।

(2) **3 मई 1913**– इस दिन दादा साहब फाल्के की पहली फिल्म ''राजा हरिश्चन्द्र'' रिलीज हुई थी, जिसका प्रेस शो 21 अप्रैल को हुआ था।

(3) **14 मार्च 1931**– इस दिन मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा में भारत की पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' रिलीज हुई थी फिर भी, फाल्के को ''हिन्द सिनेमा का जनक'' माना जाता है।

साठ के दशक में रंगीन फिल्मों की धाक जमी, तो 'जंगली'सरीखी अनेक फिल्में बनी। 1966 में बासु भट्टाचार्य की 'तीसरी कसम' कई दृष्टियों से हिन्दी फिल्मों में एक मील का पत्थर है। रेणु की कहानी पर आधारित यह फिल्म निर्माता गीतकार शैलेन्द्र का एक सपना था।यहाँ हम दादा साहब फाल्के के उद्धरण को याद करें, तो मनोरंजन भी सस्तेपन का शिकार हो गया है, ज्ञानवर्धन तो खैर बहुत दूर की चीज है।

हिन्दी सिनेमा एवं साहित्यः

हिन्दी सिनेमा ने सदैव समाज को नई दिशा दी है। हिन्दी सिनेमा का गरिमापूर्ण आरंभ तब हुआ जब प्रेमचंद की एक नामचीन कृति के आधार पर सत्यजीत रे ने सन् 1877 में अपनी पहली हिन्दी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' का सफलतापूर्वक निर्माण करके अपना नाम स्वर्णिम अक्षरों में लिखवा डाला ।

भीष्म साहनी के बंटवारे पर लिखे गए कालजयी उपन्यास 'तमस' पर इसी नाम से गोविंद निहलानी ने चार घंटे से ज्यादा की फिल्म बनाई थी जो उपन्यास की तरह ही दर्शकों को अंदर तक झकझोरने में सफल रही।सन् 1981 में मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' पर सत्यजीत रे ने फिल्म बनाई थी, यह फिल्म जाति प्रथा को उजागर करती है साथ ही इसमें अस्पृश्यता की बुराई का चित्रण भी बहुत ही उम्दा तरीके से हुआ है। ऐसी कितनी ही फिल्में हैं जिसका आधार हिन्दी साहित्य रहा और सिनेमा में अपना नाम सुनहरे पृष्ठों पर अंकित करवाया।

ऐसी कितनी ही तथ्य आधारित फिल्में बनी, जिनका आधार बना–हिन्दी साहित्य और ऐतिहासिक घटनाएं। हिन्दी साहित्य के लिए यह एक शोकजनक बात है कि सिनेमा में इसका आयोजन थोड़ा कम सफल रहा। इसके मुख्य कारणों में से एक है कि दर्शक फिल्मी दुनिया में इतने खो गए हैं कि वे अपने वास्तविक जीवन से जुड़ने में नाकामयाब रहे, जिसका असर 'तीसरी कसम' जैसी फिल्मों पर पड़ा।

भारत में बनने वाली पहली सवाक् फिल्म 'आलमआरा' से पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिशचन्द्र और वर्तमान काल तक की प्रगति केवल हिन्दी साहित्य के कारण हो पाई है।

अतः साहित्य और सिनेमा एक दूसरेके पूरक हैं। सिनेमा हिन्दी साहित्य से कभी भी अनभिज्ञ नहीं रह पाया है। हिन्दी साहित्य के धरातल पर उतरी फिल्मों में केवल मनोरंजन नहीं, अपितु वह एक वासना रहित सरल हृदय की कहानी होती है।

हिन्दी सिनेमा और दलित चेतनाः

दलित विमर्श 1980 ई० के आसपास अपने चरम पर था और उसने सिनेमा को काफी हद तक प्रभावित किया। सिनेमा के प्रारंभिक दौर मे ंही बॉम्बे टॉकीज की 'अछूत कन्या' (1936) प्रदर्शित हुई थी, जिसमें एक दलित स्त्री और एक ब्राह्मण लड़के के प्रेम को समाज के रूढ़िवाद का सामना करना पड़ता है। इसके अलावा तमाम आत्मकथा जैसे तुलसीराम की 'मुर्दहिया' आदि महत्वपूर्ण है। इस प्रकार सिनेमा और साहित्य दोनों को दलित चेतना के स्वरूप ने काफी प्रभावित किया। सिनेमा के क्षेत्र में तमाम ऐसी फिल्मे जिनमें दलितों की पीड़ा को समाज के सामने लाने का प्रयास किया गया, उनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार है–गुरूदत्त की फिल्में–प्यासा, कागज के फूल; चेतन आनंद की फिल्म–नीचा नगर ; राज कपूर की फिल्में–अब दिल्ली दूर नहीं, बूट पॉलिश; विमल राय की फिल्म–बैंडिट क्वीन; जे०पी० दत्ता की फिल्म–गुलामी; जसबर की फिल्म–डॉ० अंबेडकर; आशुतोष गोवारिकर की फिल्म–लगान; प्रकाश झा की फिल्म–आरक्षण; अनुभव सिन्हा की फिल्म–आर्टिकल 15, केतन मेहता की फिल्म–मांझी द माउंटेन मैन आदि।

इस प्रकार इन फिल्मों के माध्यम से सवर्णों के उस वर्ग पर गहरा प्रहार किया गया है, जो आजादी के बाद भी रूढ़िवादी परंपरा के गुलाम हैं, जिसका शिकार यह दलित वर्ग है। दलितों के साथ अधम कोटि का व्यवहार अंबेडकर और गांधी जी के उस विचार को भी पतन की ओर धकेल देता है, जहाँ गांधी जी ने पंक्ति में खड़े आखिरी व्यक्ति की बात की थी। सिनेमा ने दलितों की स्थिति को समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया है और इसका सकारात्मक प्रभाव समाज पर पड़ा है तथा लोगों की भावनाएँ दलित समाज के प्रति बदली है।

हिंदी सिनेमा और सद्गतिः

'सदगति' 1981 में बनी हिंदी भाषा की फिल्म है जिसके निर्देषक सत्यजीत रे हैं। यह फिल्म हिंदी के प्रसिद्ध लेखक प्रेमचंद की कहानी **'सद्गति'** पर आधारित है। इस फिल्म में कलाकार ओमपुरी (दुखी), स्मिता पाटिल (झुरिया) और मोहन अगासे (ब्राह्मण) ने मुख्य भूमिका निभाई है।

इस फ़िल्म के माध्यम से हम देखते हैं कि किस प्रकार मानसिक रूप से गुलाम व्यक्ति ब्राह्मणवाद से अपना शोषण होने देता है और शोषण सहते – सहते मर जाता है। मानसिक गुलामी दुनिया की सभी गुलामियों से बड़ी है, जो मृत्यु से भी बुरी है। जब साहित्य और सिनेमा के दो दिग्गज मिलते हैं तो उस मिलन के परिणाम का अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। उस पर बेजोड़ अभिनय और मार्मिक भाव – चित्रण हो तो महान कलाकृतियां जन्म लेती हैं। ऐसी ही एक अनमोल रचना है– फिल्म **'सद्गति'**।

'सद्गति' मुंशी प्रेमचंद जी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी में उन्होंने एक ब्राह्मण 'घासीराम'' द्वारा एक चमार 'दुखी' पर धर्म के नाम पर किए गए अत्याचार को दर्शाया है।'सद्गति' का दुखी (दलित नायक) अपने घर में एक पूजा के लिए गाँव के ब्रह्माण को बुलाने जाता है। ब्राह्मण इस शर्त पर चलने को राजी होता है कि बदले में दुखी उसके (ब्राह्मण के) घर का वो सारा काम करेगा जो अभी तक पूरा नहीं हुआ है।, मसलन झाड़ू, घर लीपना, गाय को घास डालना, वगैरह वगैरह। साथ ही यह शर्त है कि उसके घर के सामने पड़े हुए पेड़ की लकड़ी भी दुखी को काटनी होगी। जिस पेड़ को काटने के लिए कहा जाता है उसमें एक गाँठ है, जिसे मामूली कुल्हाड़ी से काटना नामुमकिन है। यह गाँठ रूढ़िवादी समाज का प्रतीक है। उस गाँठ पर भूखे पेट कुल्हाड़ी चलाते–चलाते दुखी का समय बीतता है, गाँठ नहीं टूटती लेकिन दुखी चमार की जिंदगी की गांठ खुल जाती है। ब्राह्मण के घर के सामने इस दलित नायक की लाश पड़ी हुई है, जो लगातार बारिश में भीग कर सड़ रही है। बारिश में क्या किया जाए? आखिर ब्राह्मण किसी दलित को कैसे छू सकता है? इस असमंजस में समय बीतता जाता है। आखिर भेद खुल जाने और लाश की सड़ांध से बचने के लिए ब्राह्मण दुखी के पैर में एक फंदा डालकर उसे घसीटता हुआ गाँव से बाहर ले जाकर एक कचरे के ढेर में फेंक देता है।

प्रेमचंद की इस कहानी पर सत्यजीत रे ने जब फिल्म बनाई तो अंत में कचरे के ढेर पर पड़े दलित नायक की लाश पर फ्रेम फिक्स हो जाता है। यह फिक्स फ्रेम पिछले हजारों सालों से फिक्स ही है।

प्रेमचंद ने इस कहानी के माध्यम से यह सिद्ध किया हैं कि दुखी चमार का शोषण एक ब्राह्मण कर रहा है, और उसे अपने शोषण का पता तक नहीं है। उसमें वर्ग चेतना का अभाव है लेकिन उसी गाँव का गोंड जिसमें थोड़ी वर्ग चेतना है वह दुःखी की लकड़ी फाड़ने में भी मदद करता है और उसके मरणोपरांत गाँव के लोगों को दुखी चमार की लाश को ब्राह्मण के दरवाजे से नहीं उठाने की अपील करता है। वह पुलिस से उसकी मृत्यु की जाँच करवाने के लिए गाँव वालों को तैयार करता है।

प्रेमचंद के दलित विमर्श को लेकर हिन्दी लेखकों में काफी विवाद है। प्रेमचंद के जीवनकाल के दौरान भी उनके साहित्य को लेकर विवाद उठते रहते थे। इन सारे दुष्प्रचार का जवाब प्रेमचंद प्रशंसक बालकृष्ण शर्मा नवीन ने दिया–'प्रेमचंद के निंदक मर जाएंगे, लेकिन प्रेमचंद जीवित रहेंगे'।'

वर्तमान हिंदी सिनेमा और दलित चेतनाः

कुछ साल पहले मंडल कमीशन और अन्य पिछड़े वर्ग के विषय को लेकर एक फिल्म आई थी –**'आरक्षण' (2011)** जिसके निर्देशक थे– प्रकाश झा और उन्होंने अंजुम राजबली के साथ मिलकर इसकी कहानी भी लिखी है। **'आरक्षण'** फिल्म व्यवस्था और उसके बाद के आरक्षण विरोधी आंदोलन और इन परिस्थितियों में आरक्षित और सामान्य वर्ग के छात्रों के बीच घृणा, प्रेम और प्रतिद्वंदिता की पृष्ठभूमि पर बनी है। शिक्षण संस्थानों में व्याप्त जातीय भेदभाव की भावना को भी दर्शाने में यह फिल्म सक्षम रही है।

दूसरी महत्वपूर्ण फिल्म जिसकी चर्चा दलित विषय पर आवष्यक है वह है –'मसान' (2015)। बनारस की पृष्ठभूमि पर बनी इस फिल्म के निर्देशक, नीरज धवन है। इस फिल्म ने भारतीय सिनेमा के 'कान फिल्म समारोह' को अविस्मरणीय बना दिया था। 'मसान' स्त्री, दलित और पिछड़े समाज की भूमिका के साथ–साथ न्यायसंगत और तर्कशील दृष्टिकोण अख्तियार करती है।

तीसरी फिल्म **'आर्टिकल 15'** है। गाँवों में जहाँ कानून व्यवस्था अत्यंत कमजोर है, वहाँ दलितों के हाथ का खाना पीना तो छोड़िए, उनकी परछाई से भी दूर रहा जाता है। इन्ही प्रश्नों के इर्द–गिर्द 'मुल्क' जैसे बेहतरीन फिल्म निर्देषक अनुभव सिन्हा ने **'आर्टिकल 15'** नामक फिल्म बनाई है।कुछ फिल्में मनोरंजन करती हैं और कुछ आत्मा को झकझोरती हैं, 'आर्टिकल 15' दूसरे कैटेगरी की फिल्म है।

'शुद्रा : द राईजिंग फिल्म के जरिए निर्देशक ने बताया है कि जिस शुद्र स्त्रियों की परछाई से दिन के उजाले में सामंती व्यवस्था के आग्रही दूर भागते हैं वही रात के अंधेरे में उन्हीं स्त्रियों के संग अपनी रात सजाते हैं। यानि देह और मस्तिष्क दो टुकड़े में बांटकर देखने की कवायद। कात्यायनी के शब्दों में –

''देह नही होती है, एक दिन स्त्री
और उलट– पुलट जाती है
सारी दुनिया
अचानक।''

2001 में आषुतोष गोवारिकर द्वारा निर्मित फिल्म 'लगान' इसी कोटि की फिल्मों में से एक है। इस फिल्म में एक पात्र का नाम 'कचरा' है जो दलित है।'' **उसका संत्रास, उसकी कुंठा, उसका शोषण यथावत जारी है और उसका विद्रोह कोई नहीं कभी नही रहा, आज भी नहीं।'' (शर्मा, पृष्ठ 78)।** लगान फिल्म का कचरा एक महत्वपूर्ण किरदार होने के बावजूद भी उसकी छवि उसी प्रकार खो गई है जिस प्रकार क्रिकेट की दुनिया में पालवलंकर खो गए हैं, कारण कि वे दलित थे।

दलित चेतना का संपूर्ण समाज पर प्रभावः

दलित चेतना को मुख्य रूप से जगाने का कार्य साहित्य और सिनेमा ने किया। इसका व्यापक प्रभाव संपूर्ण समाज पर पड़ा, जहाँ साहित्य के क्षेत्र में दलित की पीड़ा एवं पुरूष की दयनीय स्थिति को उजागर करने का कार्य केवल भारती, प्रेमचंद, ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ० अंबेडकर और ज्योतिबा फुले ने किया तो वहीं सिनेमा में दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार एवं उसकी मार्मिक दयनीय स्थिति का चित्रण समाज में जागरूकता के उद्देश्य से किया गया।

दलित चेतना की जागृति का प्रभाव दलित वर्ग पर व्यापक रूप से पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप समाज के हरेक क्षेत्र में दलितों की भागीदार बढ़ी है, वहीं समाज की मानसिकता में भी कुछ हद तक सकारात्मक बदलाव आए हैं, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमारे देश के राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद हैं। चर्चा अगर फिल्म के क्षेत्र की हो तो जिस प्रकार दलित कलाकारों की भागीदारी बढ़ी है, वह प्रशंसनीय है, लेकिन वे अपनी वर्गीय समस्या को व्यक्त करने में भी ज्यादा सफल नहीं हुए हैं। इस प्रकार बॉम्बे टॉकिज की 'अछूत कन्या' से लेकर 'आर्टिकल 15' तक के बीच कई फिल्मों ने दलित की मार्मिक एवं दयनीय स्थिति से समाज को अवगत कराने का प्रयास किया।

हालांकि समाज में कुछ सकारात्मक परिवर्तन आए हैं। जैसे सरकार द्वारा दलितों के लिए विशेष प्रावधान, उनके विकास के लिए तमाम प्रयास, समाज की मानसिकता में परिवर्तन तथा दलित वर्ग भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे हैं। लेकिन, आज भी वे समाज में अपने वास्तविक अधिकारों से वंचित हैं; उन्हें समाज द्वारा प्रताड़ित किया जा रहा है जिसका उदाहरण हमें 'सत्यमेव जयते' के 'एपीसोड 10' से मिलता है, जिसमें एक दलित स्त्री की पढ़ाई से लेकर दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बनने तक की प्रताड़ना की व्यथा–कथा है।

अतः दलित की यह दशा आज भी समाज में व्याप्त है जो समाज की जागरूकता और मानसिकता को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करती है तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति को कलंकित करने का प्रयास कर रही है।

चुनौतियाँ :

हिंदी सिनेमा ने 2013 में अपनी विकास यात्रा के 100 वर्ष पूरे कर लिए हैं। तब से अब तक इसने परिवर्तन के अनेक दौर देखे हैं। मूक फिल्म से सवाक, श्वेत–श्याम से रंगीन तथा डिजिटल सिनेमा से मल्टी–प्लेक्स सिनेमा हॉलों तक इसने लंबा सफर तय किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि देश के बहुसंख्यक आवाम के सुख – दुःख या उत्साह–विषाद, जय–पराजय का साक्षी यही लोकप्रिय सिनेमा रहा है। कला के सभी प्रारूपों सिनेमा, रंगमंच, साहित्य, चित्रकला आदि में अगर किसी विधा ने जन सामान्य तथा समाज पर गहरा प्रभाव डाला है, तो वह सिनेमा ही है।

1950–60 के दशक में बनी – 'धरती के लाल', 'दो बीघा जमीन', 'बूट पॉलिस', 'प्यासा', 'फुटपाथ', 'दोस्ती', 'मदर इंडिया', 'सुजाता', 'पैगाम', जैसे फिल्मों की अब कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी तरह 90 के दशक में समानांतर सिनेमा आंदोलन के दौर में बनी 'अंकुर', 'आक्रोश', 'आंदोलन', 'भुवन', 'सोम', 'सद्गति' जैसी फिल्में भी नहीं बन रही हैं।

एक समय में बड़े – बड़े सिनेमा हॉलों में विभिन्न दर्जे के 'सीट' तक पैसे द्वारा तय होने लगे। प्रतिभा किसी धर्म या जाति की जागीर नहीं होती, इसके बावजूद बॉलीवुड पर कपूर खानदान व खान तिकड़ी का प्रभुत्व रहा है।इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के दौर में यदि कोई निर्माता–निर्देशक दलितों की पीड़ा को अपनी फिल्म में वास्तविकता के साथ अभिव्यक्त करता है तो उसे कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

निष्कर्षः

यह कथन सत्य है कि 'मुक्ति' कृपा से प्राप्त वस्तु नहीं है, वह यथास्थिति को तोड़ती है। कहा भी जाता है कि दासता अभिशाप है और मुक्ति वरदान। हर मुक्ति की अपनी एक चेतना होती है और चेतना का लंबा इतिहास। लेकिन विडंबना यह है कि वर्तमान में लोकतांत्रिक समाज में सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारणों से कुछ खास मनुष्यों और जातियों को उपेक्षा की नजर से देखा जाता है। इन्हें कभी भी मुख्यधारा में आने का मौका नहीं दिया गया।

''एक ऐसी समाज– व्यवस्था में हम सांस ले रहे हैं, जो कि बेहद क्रूर और अमानवीय है।''

(वाल्मीकि–जूठन पृष्ठ सं०–7)

एक बड़ी सच्चाई यह भी है कि इन्होंने भारतीय इतिहास के विभिन्न ऐतिहासिक मोड़ों पर सार्थक और सकारात्मक भूमिका अदा की है। **डॉक्टर अंबेडकर के अनुसार– ''सामाजिक दर्शन को तीन शब्दों में कहा जा सकता है–स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व।''** वास्तव में भारतीय समाज का ढांचा दो तरह की व्यवस्थाओं

से मिलकर खड़ा होता है–पहला ब्रह्मणवादी व्यवस्था और दूसरा लोकवादी व्यवस्था।ब्राह्मणवादी व्यवस्था सत्तावाद और यथास्थितिवाद की पोषक है, जबकि लोकवादी व्यवस्था, शिक्षा, विज्ञान, कला और तकनीकी आदि सभी माध्यमों की जातिवाद के विरोध में संघर्ष करती दिखाई देती है। दलित और अन्य पिछड़ा समुदाय इसका आधार क्षेत्र है। वे सारे लोग जो एक बदनाम और कुटिल व्यवस्था में जीने को विवश थे, अब अपने सपनों को साकार करने और सदियों से जमें गुस्से और क्षोभ को व्यक्त करने की स्थिति में आ गए हैं। राजेन्द्र यादव इसी को **'हाशिए की आवाज'** कहा करते थे।

साहित्य की दुनियां में भी इस विमर्श की गूंज हमें सुनाई देती है। विचारों के उन्मेष का सशक्त माध्यम साहित्य और सिनेमा है। सिनेमा दृष्य विधा का ऐसा माध्यम है, जिसकी पहुँच साधारण जनता तक है। संप्रेषण का यह एक सषक्त माध्यम है, वह मूल्यों में सामंती है।

अंततः अपने शोध के माध्यम से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि चाहे साहित्य हो या सिनेमा, प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानियाँ हों या उपन्यास, प्रसिद्ध निर्माता निर्देशकों की उत्कृष्ट कहानियों पर आधारित फिल्म हो या दलितों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने वाले दृश्य, ये सभी तभी कामयाब हो सकते हैं जब इंसान अपनी सोच और मानसिकता में बदलाव ला सकेगा।

संदर्भ स्रोत

भारद्वाज, विनोद (2006), **सिनेमा कल, आज और कल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।**

शर्मा, राजमणि, (2008) **दलित चेतना की कहानियाँ बदलती परिभाषाएँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।**

वाल्मीकि, ओम प्रकाश, (1997) **जूठन (पहला खण्ड)**

अन्य स्त्रोतः

वेबसाईटें:– makingindianonline.in, Wikipedia, www.jankipul.com

NDTV India, You Tube-Samyak TV India Channel

Satyamev Jayate, Episode-10